

पिंटी का साबुन

संजय खाती

हमारे गाँव में ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। साबुन का नाम हमने और दूसरे लोगों ने सुना जरूर था, लेकिन दो-चार ही लोग ऐसे मिलेंगे जिन्होंने उसे सचमुच देखा हो। 'साबुन' का नाम भी लोगों को मालूम था तो सिर्फ फौजियों की बदौलत और थोड़ा इसलिए भी कि जब एक बार डिप्टी साहब की बिटिया पिंटी गाँव आयी थी तो उसके पास कुछ औरतों ने यह चीज देखी थी। कहते हैं, पिंटी जहाँ खड़ी हो उससे एक कोस दूर तक फूलों की-सी बास महकती थी। दस-पन्द्रह साल बाद भी लोगों को वह पिंटी याद रही तो इसी वजह से। लोग साबुन का जिक्र इत्र और फुलेल के बाद करते थे।

पिंटी तो खैर जैसे दूसरी दुनिया से आई जीव थी। गाँव के किसी आदमी के पास कभी साबुन नहीं देखा गया। सच्चे अर्थों में गाँव में पहले साबुन आया मेरे पास और वह भी अचानक, अप्रत्याशित रूप से।

उस दिन पंद्रह अगस्त या ऐसा ही कुछ खास दिन रहा होगा, क्योंकि स्कूल बंद था। मैं और काका आलू बेचने के लिए कई कोस चलकर कसबे में आये थे। काका मुझसे पाँच-सात साल ही बड़ा होगा। हम दोनों लगभग दोस्त जैसे ही थे। हालाँकि कभी-कभी वह बड़प्पन जताने को उत्सुक हो जाता था, लेकिन उसका कोई दबादबा मुझ पर नहीं बन पाया।

तो, कसबे की रौनक से हम लोग लेमनचूस चाटते भटक रहे थे कि एक

भीड़ भरे मैदान में जा पहुँचे, जहाँ बिल्कुल मेला-सा लगा था। खूब शोर हो रहा था। सीटियाँ बज रही थीं। एक भोंपे से किसी आदमी की जोरदार आवाज आ रही थी, जैसे डाँट रहा हो।

हम अचकचाये-से और बिल्कुल बेध्यानी में उस भीड़ में घुसे जा रहे थे कि अचानक मैंने पाया, मैं अपने जैसे लड़कों की एक कतार में खड़ा हूँ। किसी ने बाँह पकड़कर जल्दी से मुझे वहाँ खड़ा कर दिया था। एक आदमी सबको सफेद लाइन पर खड़ा कर रहा था। मेरे दोनों ओर लड़के चिल्ला रहे थे, झपटने की मुद्रा में बार-बार एक टाँग पर झुके जा रहे थे। लगा, जैसे कोई दौड़ होने जा रही हो।

पहले तो मैं घबरा गया। इधर-उधर देखा तो काका का कहीं पता ही नहीं। लाठी वालों ने बाकी भीड़ के साथ उसे भी धकिया दिया होगा। अब भोंपू पर गिनती गिनी जा रही थी, एक...दो...

और तीन! भूखे जानवरों की तरह सब भागे। साथ में मैं भी। पहले तो कुछ सूझा ही नहीं, पर जब देखा कि बगल वाला छोकरा अपनी सींकियाँ टाँगें पटकता आगे निकला जा रहा है तो मैं भी भाग लिया दम तोड़कर। ऐसा कि मैदान के दूसरे छोर पर बँधी रस्सी में उलझकर गिर पड़ा। घुटने में लगी सो अलगा झाड़कर खड़ा हुआ तो तालियाँ। चमचमाती डिबिया थमा दी।

भीड़ में जाने कहाँ से काका हँसता हुआ प्रकट हो गया। अब हम दोनों साथ-साथ हँसे जा रहे थे। मेरा मन हो रहा था कि अभी खूब दौड़ूँ, दौड़ता ही जाऊँ, आगे-आगे कुलाँचें भरता मैं भागा तो काका भी हाँफता हुआ आया पीछे-पीछे। कसबा पीछे छूट गया। मैं गाँव की ओर सरपट भागा जा रहा था। काका आवाज देने लगा। आखिर में नदी के पास मैं रुका तो उसने मुझे पकड़ लिया।

काका ने कहा, "क्या है रे?"

तब जाकर मुझे खयाल आया कि वह लाल चमकती डिबिया मेरे हाथ में है। काका ने झट से उसे छीन लिया और उलट-पलटकर देखने लगा। उसी को सबसे पहले सूझा कि ये तो साबण है। उसका चेहरा उत्तेजना से चमकने लगा। वह बार-बार उसे सूँघता। माँगने पर भी नहीं देता। चिढ़कर बोलता, “खा नहीं रहा हूँ।” उसकी नीयत में खोट लगता था।

मैं भड़क गया, आखिर वह मेरी चीज थी। मैंने काका से उसे छीनने की कोशिश की। उसे गिराने के लिए संघर्ष किया, लेकिन लम्बे खडूस से जीतना मेरे लिए नामुमकिन ही था। अब तक उसने बाहर की चमकीली पन्नी भी खोल दी थी और अंदर की गुलाबी नाजुक टिकिया निकाल ली थी।

अंतिम हथियार के तौर पर मैं धप से नदी के पत्थरों पर गिर गया और धाड़ मारकर सचमुच रोने लगा, “मैं इजा से कह दूँगा, हाँ!”

हमेशा की तरह इस बार भी मेरी चाल कामयाब हुई। काका कुछ देर मुझे लाल आँखों से घूरता रहा, फिर “जा मर” कहकर टिकिया फेंक दी। मैंने उसे लपक लिया। “पन्नी भी दे।” काका ने पन्नी भी फेंक दी। मैंने नाजुक टिकिया को फिर पन्नी में जतन से लपेटा और उसे सूँघता, हँसता हुआ घर की ओर चला।

काका से पहली बार गहरी दुश्मनी की यह शुरुआत थी। उस वक्त तो मैं साबुन की उस भीनी खुशबू में इतना मगन था कि काका की ओर ध्यान देने का वक्त नहीं था मेरे पास, लेकिन आगे चलकर हम दोनों की दुश्मनी स्थायी बात हो गयी।

बहरहाल, उस शाम काका पीछे-पीछे, पत्थरों को ठोकर मारता हुआ चला। घर पहुँचते ही मुँह टेढ़ा कर उसने ऐलानिया अंदाज में कहा, “गोपिए को एक साबण क्या मिल गया, नीचे ही नहीं देख रहा आज।”

इजा गोबर समेट रही थी, खड़ी होकर बोली, “साबण! कहाँ से लाया रे? कैसा है? दिखा तो।”

“मेरा है।” मैंने तुनककर कहा।

इजा हाथ खूब साफ से धोकर आयी। “दिखा तो, मैं भी देखूँ कैसा साबण है।”

मुझे अब तक किसी पर एतबार नहीं रह गया था। बहुत नखरे के साथ उँगलियाँ खोलीं। इजा ने बड़े शौक के साथ साबुन लिया। ढिबरी के पास जाकर गौर से देखा। दो-तीन बार सूँघा, बोली, “मैं नहाऊँगी इससे।”

मैं चील की तरह झपटा। साबुन झपटकर अंदर की जेब में दूँसा। भागकर खड़ा हुआ बीस कदम दूर। इजा देखती रह गयी। “मर तू! आग लगे तेरे साबण को!” उसने चिचियाकर कहा और आँखें तरेरती हुई वहाँ से चली गई।

इस तरह माँ मेरी दूसरी दुश्मन बनी। असल में साबुन की इस महत्ता को मैं पहले समझ ही नहीं पाया। शायद समझने की उम्र थी भी नहीं, लेकिन जल्द ही मुझे लगने लगा मानो मैं चारों ओर से दुश्मनों से घिर गया हूँ। मुझे मालूम था, काका मेरी हर चीज को उलट-पलटकर देखता हैं घर में जितने भी कनस्तर-डिब्बे हैं, सबको उसने टटोला है, यहाँ तक कि गोशाला की घास-पुआल को भी वह छान आया है, लेकिन साबुन कहाँ है, यह मेरे अलावा कोई नहीं जान सका था।

हारकर काका ने मेरी चापलूसी करने की भी कोशिश की, लेकिन अब मैं उतना भोला नहीं रह गया था।

बापू को तो साबुन देखना नसीब ही नहीं हुआ। इजा और काका ने हर वक्त साबुन का जिक्र करके उनको इतना उकसा दिया था कि वे मारपीट पर उतर आए। पर अब तक मैंने जान लिया था कि जो भी साबुन देख लेगा, उसकी नीयत में खोट आ जायेगी। सो मैं भी टस से मस नहीं हुआ। हारकर बापू ने

यह कहते हुए कि बहुत इतर-फुलेल का शौक चढ़ा है, भेज दो साले को गाय चराने, मुझे कसकर दो लातें मारीं।

मैं रोया नहीं और इस अपमान को पी लिया। लेकिन इस घड़ी से मुझे संदेह होने लगा कि मैं उनका असली बेटा हूँ भी या नहीं।

कुंती को अलबत्ता एक दिन मेरी सख्त पहरेदारी में साबुन को छू-सूँघकर देखने का मौका मिला। कुंती तब से आँखें बड़ी-बड़ी किये पीछे-पीछे डोलती रहती है। उसे भगाने के लिए झापड़ों के अलावा कोई रास्ता नहीं होता।

इतने लोगों के बीच साबुन को बार-बार देख पाना मेरे लिए भी मुश्किल हो रहा था। मेरी बेचैनी लगातार बढ़ रही थी। हर दिन पहाड़-सा लगता। आखिरकार इतवार को जी कड़ा कर मैंने साबुन निकाल ही लिया और गर्म पानी लेकर नहाने बैठा।

यह साबुन से मेरा पहला स्नान होने जा रहा था। मैंने बड़े प्यार से पन्नी अलग की। एहतियात से धूप में रखे साबुन को नरमी से दाँएँ हाथ में पकड़ा और भीगे बालों को हौले-हौले छुआ।

गुलाबी टिकिया पर उभरे हुए अक्षर बने थे। मुझे अंग्रेजी पढ़नी नहीं आती थी, लेकिन यह जो कुछ भी लिखा था, इससे साबुन की खूबसूरती बढ़ रही थी। वे मिट्टें नहीं, इसका खयाल रखना था।

काका कहने को तो चाख में बैठा पढ़ाई कर रहा था, लेकिन बार-बार उसका सिर खिड़की से दिखाई दे जाता। फिर जोर-जोर से किताब पढ़ने की आवाज आती। इजा घास को जाती बीच आँगन में रुक गयी। कुछ देर देखती रही। फिर मुँह बिचकाकर चली गयी। कुंती दो कदम दूर आकर खड़ी हो गयी और मेरे बालों पर फिसलते साबुन को, उससे बनते सफेद झाग को और धूप में चमकते कई रंगों के बुलबुलों को एकटक देखती रही। “भाग, भाग!” मैं चिल्लाया।

कुंती चिरौरी करने लगी, “दादा, मुझे भी दे दे थोड़ा-सा।”

कुंती को मैं अच्छी तरह जानता था। बिल्ली की तरह धूर्त। उसे भगाने में ही भलाई थी। पहले तो मैंने उस पर पानी फेंका। नहीं हटी तो भीगे हाथ से दिया एक झापड़। इधर चिल्लाती हुई कुंती भागी, उधर सीढ़ियों पर धड़धड़ता हुआ आया काका। “उस पर हाथ चलाया तूने? आज तो तेरी खैर नहीं!” पर मुँडेर से आगे नहीं बढ़ा। वहीं रुककर घूरने लगा। मैं बहुत दूर था। मजे से हँसता झाग उठाता रहा। काका गालियाँ देता रहा, लेकिन वहाँ से हटा भी नहीं।

बडी देर लगाकर पानी डाला बदन पर। साबुन को सुखाया। नामालूम-सा घिसा था। पन्नी में सँभालकर रखा। इतराता हुआ काका के बगल से निकला। काका ने हवा को सूँघा।

कैसी तो ताजगी आ गयी थी बदन में! कैसे खूशबू! और बाल कैसे नरम! खुशबू कहीं उड़ न जाय यह सोचकर फटाफट कपड़े पहने।

अपने आँगन की मुँडेर से मैं छल्लाँग लगाता और कई बार ऐसा होता कि मैं उड़ने लगता। ऊँचे और ऊँचे पहाड़ों के ऊपर मैं कबूतरों की तरह तैरता जाता। दूर-दूर तक जाने कितने देश, कितने गाँव एक साथ मेरे नीचे सरकते जाते। बदन में सनसनी सी होने लगती। नीचे देखता तो अपना घर छोटा-सा दिखाई देता-खिलौने जैसा। और इजा, बापू, काका, कुंती, सारे लोग कैसे दिखाई देते? जैसे चींटी जितने को गए हों। मैं सारी दुनिया के ऊपर तैरता। सब कुछ मेरे नीचे। कोई मुझ तक नहीं पहुँच सकता था।

यह सपनों की बात थी। कहते हैं कि बढ़वार के दिनों में बच्चों को उड़ने के सपने दिखाई देते हैं लेकिन, सपने सच नहीं होते, यह किसने कहा!

साबुन से नहाकर उस दिन मुझे लगा था, किसी भी क्षण मैं उड़ने लूँगा।

स्कूल का दिन था। सुबह-सुबह खूब झाग उठाकर खुद को चमकाया। महकते बदन पर सबसे अच्छे कपड़े डाले। टेढ़ी करके माँग निकाली और

रास्ते-भर कुहनी उठाकर सूँघता रहा कि कहीं खुशबू उड़ तो नहीं गयी। नहीं, खुशबू उड़ती नहीं थी। घंटों बनी रहती। अगर धूप नहीं होती, पसीना नहीं होता, धूल नहीं उड़ती और हवा नहीं चलती तो शायद बदन हमेशा महकता रहता।

क्लास में तो सनसनी ही फैल गई। थोड़ी ही देर में सब लड़के नाक उठाये बौराये-से हवा को सूँघ रहे थे। मैं कुछ देर मंद-मंद मुस्कराता इसका आनंद लेता रहा फिर पास वाले लड़के के मुँह पर अपनी बाँह अड़ा दी।

“ओ बबा हो! क्या लगा के आया है?” लड़का तो उछल ही पड़ा। क्लास में ऐसी रेलपेल मची कि तौबा! लड़के एक-दूसरे को धकियाते लपके और जहाँ-तहाँ नाक गड़ाकर लगा सूँघने। जो सूँघ चुके थे वे आँखें कपाल पर चढ़ाकर कहने लगे, “बता तो, बता तो!”

और जब मैंने मजे ले-लेकर सारी कहानी सुनायी तो क्लास में शोर मच गया। सच? कैसा है? साथ में पन्नी भी है? एक दिन तो खत्म हो जाएगा, फिर? फिर क्या, और दौड़ेगा तो नया जीत जाएगा। एक साल तो चलेगा ही, दिखा यार, दिखा ना!

मास्साब आये तो हंगामा थमा, लेकिन किसी का ध्यान पढ़ाई की ओर नहीं था। सब कनखियों से मुझे देख रहे थे। मैं तो आकाश में खूब ऊँचा उड़ रहा था। उस पल अगर मैं कह देता कि आज से मानीटर मैं हुआ तो वे सब कहते-हाँ, हुआ। उन्होंने अपने बाप-दादों से इतना कुछ सुना था पिंटी के बारे में, उसके साबुन के बारे में। आज वे सब सपने जैसी कथाएँ सच होती देख वे लगभग पागल-से हो उठे थे।

हाफ टाइम की घंटी बजी। हमेशा की तरह भाग पड़ने को लड़के उठे। अचानक सबके सब ठिठक गये। मैं वहीं बैठा जो था अपनी जगह। “चल रे, चल।” आज सब मेरे करीब आना चाहते थे। वे भी जो मेरे दुश्मन थे और दुबले-पतलेपन की वजह से मुझे पीटा करते थे।

मैं उठा तो, लेकिन एक अनजानी झिझक ने मुझे घेर लिया। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। पहले तो सबसे पहले भाग छूटने वालों में मैं अब्वल रहता था, लेकिन पहले कभी सारे लड़कों ने मुझे घेरकर ऐसे ‘चल, चल’ भी नहीं कहा था।

“तू हमारी तरफ हुआ।” - “नहीं, हमारी तरफ” कबड्डी में मैं किस टीम के साथ खेलूँ, इसे लेकर भारी झगड़ा चल पड़ा था।

मैं तो संकोच से मरा जा रहा था। कबड्डी में रगेदे जाने का, मिट्टी में लिपटने का डर मुझ पर हावी हो गया। “नहीं, मेरा मन नहीं है खेलने का।” मैंने कहा।

“क्यों? क्यों?” हर तरफ से पुकार मच गयी। फिर अपने आप जैसे सब लड़के समझ गये। “अच्छा तू रेफरी हुआ। तू बैठकर देखा।” वे एक-एक कर खिसकने लगे, खिसियाये हुए।

हर कोई साबुन देखने को बेकल था। सारे गाँव में जंगल की आग की तरह यह बात फैल गयी थी। लोग मुझे रोक लेते, कोई बहाना खोजकर घर चले आते। वे चाहते कि मैं उनको साबुन दिखा दूँ। जब मैं इनकार कर देता तो वे नाराज हो जाते। डॉट-डपट करते। अलबत्ता वे मुझे सूँघ जरूर लेते। साबुन न दिखाने की मेरी इस जिद से घरवालों को शर्मिंदगी का सामना करना पड़ता होगा। बाद में मुझे वे अपनी गालियों का निशाना बनाते। काका जब भी सामने आता धमकी-भरे इशारे करता। दो-एक बार तो उसके अकेले में मेरा गला भी दबाया। कुंती हमेशा मुँह फुलाये रहती। उससे मेरी झड़प हो जाये तो बापू मुझे अपने ढाई किलो के हाथ से झापड़ मारने में जरा देर नहीं करते। इजा मुझसे हमेशा चिड़चिड़ाते हुए बात करती।

सारी दुनिया गिद्धों की तरह मेरे उस छोटे-से सुख को नोचने के लिए बेताब थी। मैंने देखा कि पहले तो लोग मेरी इज्जत करने लगते, लेकिन जब मैं उनको साबुन नहीं दिखाता तो वे फौरन मेरे खिलाफ लामबंदी कर लेते। लगभग सभी मेरे दुश्मन हो चुके थे।

लोगों ने मेरा नाम ही पिंटी रख दिया था। यह सिर्फ मजाक नहीं था। इस तरह वे अपनी नफरत जता रहे होते। लड़के मुझे 'पिंटी-पिंटी' कहकर पुकारते। और हैरानी की बात तो यह कि इस बात से मुझे तकलीफ होने के बावजूद मैं अकसर उस पिंटी के बारे में सोचने लगा था। मैं सोचता कि वह कैसी और कहाँ होगी। मैंने मन में उसका एक खाका भी खींच लिया था, जिस पर मैं अपनी खाली वक्त में रंग भरा करता था। मेरे खयाल से वह हमारे कैलेंडर की लक्ष्मी जैसी थी। वह इतनी गोरी थी और उसके कपड़े इतने चमकीले थे कि रात में भी उसके आसपास उजाला रहता था। उस पर धूल का एक कण भी नहीं बैठ सकता था। वह इतनी हल्की थी मानो उसे सफ़ेद कोरे कागज से बनाया गया हो।

और खेलना तो मैंने छोड़ ही दिया था। कुछ लड़के मेरे करीब होना चाहते, लेकिन जल्दी ही धमाचौकड़ी का आकर्षण उनको खींच ले जाता। जब लड़के हुड़दंग मचा रहे होते, तब मैं दीवार पर बैठा टाँगे हिलाता रहता। वे कबड्डी में एक-दूसरे को रगेदते, गीले खेतों में घुसकर ककड़ियाँ खोजते, चोरी से नीबू तोड़ लाते, नदी में नंगे होकर नहाते, पिरूल में फिसलते। वे हमेशा की तरह चीखते-चिल्लाते, गुत्थमगुत्था होते, कपड़े फाड़ लेते या बदन छिला लेते। मैं बैठे-बैठे उनको देखता और उँगलियाँ चटखाता।

सच कहूँ तो कई बार मेरी इच्छा हुई कि मैं उनके बीच कूद पड़ूँ, लेकिन जब भी ऐसा करने को हुआ, जाने किस बात ने मेरे शरीर को जड़ कर दिया। तब मैंने चाहा कि कोई लड़का मुझे जबरन घसीटकर कबड्डी के मैदान में धकेल दे, लेकिन शायद यह नहीं हो सकता था। वे तो अब मुझसे खेलने को कहते भी नहीं थे। उन्होंने मान लिया था कि पिंटी का काम बैठकर उनको देखते रहना है। वे मेरा अस्तित्व ही भूलने लगे थे।

अब फिर काका बाजार जा रहा था। सामान लाने के लिए थैले-झोले समेट रहा था। मुझसे रहा नहीं गया, कहा, "मैं भी चलूँगा।"

काका एकदम भड़क गया, "तू नहीं जायेगा मेरे साथ।"

"मैं जाऊँगा।"

"भाभी!" काका ने ऐलान किया, "इसी से मँगा ले अपना सामान, मैं नहीं जा रहा।"

इजा बाघिन की तरह झपटती आयी। मेरा कान पकड़कर पटक दिया जमीन पर। "आज करती हूँ मैं इसका इलाज। ज्यों-ज्यों बढ़ रहा है, त्यों-त्यों सड़ रहा है।" मेरी पीठ पर दो लातें मारीं और घसीटती हुई ले चली बाहर।

पीछे से काका उल्लास से चिल्लाया, "जरा अच्छी तरह से कर दो मरम्मत पिंटी की।"

इजा मुझे मरे चूहे की तरह घसीटती मुँडेर पर ले गयी और धकेल दिया बिच्छू के झाड़ पर।

"ओऽइऽऽजाऽऽवेऽऽ!"

मोह का एक पतला सा धागा भर बचा था। टूट गया वह उस क्षण। हाफ टाइम में दीवार पर बैठे मेरी आँखें बार-बार भर आतीं। कूदते-फाँदते लड़के नजर में काँपते लगते। बिच्छू के काँटों से बदन अभी भी चिलचिला रहा था। कोहनियाँ छिली हुई। बालों में धूल। नहाया था उस सुबह भी, लेकिन बदन में कोई खुशबू बाकी नहीं।

मन खुलकर रो पड़ने को कर रहा था। जाऊँ, चला जाऊँ यहाँ से। हमेशा के लिए वहाँ, जहाँ पिंटी रहती है। वहाँ लोग ऐसे नहीं हैं। वहाँ नफरत नहीं है। बिना बात के ऐसा जुल्म नहीं है।

और मैंने फैसला किया कि एक दिन मौका मिलते ही बाजार भाग जाऊँगा। कहते हैं, वहाँ से दूर-दूर को बसें जाती हैं। किसी में बैठ जाऊँगा, फिर कभी नहीं लौटूँगा यहाँ। कभी नहीं।

उस वक्त से यह इरादा मेरे मन में हर पल पक्का होता गया। मैंने कपड़े चुन लिए जो साथ ले जाने थे। एक झोला भी उनके लिए छिपा लिया। कुछ अखरोट भी रख लिए और देख लिया कि रुपये कहाँ से निकाले जा सकते हैं। मुझे बस मौके का इंतजार था।

और ऐसे में वह कांड हो गया।

मैं नहा रहा था। कैसी भी ठंड हो, मैं नहाये बिना नहीं रहता। मुझे मालूम नहीं था कि काका घात में हैं। मैंने साबुन अलग रखा कि वह बिल्ली की तरह झपटा। मैं सकते में। काका का हाथ साबुन पर पड़ा। उठा भी लेता कि साबुन फिसलकर दूर जा गिरा और तब तक मैंने आँखें भीचकर पीतल का भारी लोटा दे मारा।

काका 'हाय' कहता चकराकर बैठक गया और सिर पकड़े वैसे ही रह गया।

तब तक मैंने साबुन उठा लिया और लोटा पकड़कर फिर से तैयार हो गया। पर काका तो उठा ही नहीं। तब मेरी टाँगें काँपने लगीं। काका को हिलाकर पुकारा, "काका, काका!"

कराहकर काका ने सिर उठाया तो देखा, माथे से एकदम लाल-लाल खून बह रहा था। "मार दी साले!" काका जाने क्या-क्या बड़बड़ाने लगा। फिर हाथों से माथा दबाये लड़खड़ाता हुआ बाहर को चला। देहरी के पास रुककर मुड़ा। रुआँसा चेहरा। गालों पर खून और आँसूओं के धारे। सिसकता हुआ बोला, "साले, एक दिन तो खतम हो जायेगा तेरा साबणा।"

काका चला गया। मैं सन्न खड़ा रहा। हथेली खोलकर देखा। गुलाबी खूबसूरत टिकिया। पर अब कितनी पतली लग रही थी। और खुशबू भी तो शायद उड़ गयी थी।

मेरा मन डूब गया।

रोने का वक्त नहीं था। फटाफट कपड़े पहन भागता हुआ गया ऊपर। झोला

निकाला, कुछ कपड़े ढूँसे। अखरोट रखने का वक्त नहीं। बस्ता? नहीं, बस्ते का क्या काम? पैसे?

तभी सुना, बाहर काका घबराई हुई इजा को बता रहा था कि कैसे वह गोठ में गोबर पर फिसल गया और कैसे उसका सिर देहरी से टकराया।

मुझे फिर खड़ा नहीं रहा गया। औंधे मुँह चारपाई पर गिर पड़ा। बड़ी देर बाद इस काबिल हुआ कि जाकर साबुन को उसकी जगह छिपा आऊँ। लौटकर एक अँधेरे कोने में सो रहा। शाम हो गयी। तो भी नहीं उठा। कहा कि पेट में दर्द है।

सुबह उठा तो देखा, अजीब-सा उजाला सब ओर फैला है। रातोंरात बर्फ गिर गयी थी। पता ही नहीं चला। आशंका से मेरा दिल बैठ गया।

ताजी बर्फ पर नंगे पाँव भागता गया। ठंड की परवाह किसे थी! पुआल के ढेर पर चार-चार अंगुल बर्फ जमी थी। यहीं कहीं थी वह सेंधा हाथों से बर्फ खोदी तो नीचे कीचड़ ही कीचड़। हाथ सन गये। यहाँ नहीं, यहाँ नहीं! यहाँ भी नहीं!

कोई लिसलिसी-सी चीज उँगलियों में आयी। गुलाबी कीचड़ का एक लोंदा, खुशबूदार। उस लोंगे को हथेली में भरे मैं वहीं बर्फ पर धप से बैठ गया। शीत से काँपता हुआ।

"गोपिया!" यह इजा थी। दूध लगाने आयी थी। मैंने सिर उठाकर देखा। उसी उपहास के लिए सिकड़ते हुए उसके होंठ। मेरे हाथ में लोंदा गिर गया। माँ के होंठों से एक सिसकी-सी निकली, "गोपिया!"

पाँवों से सिर तक एक थरथराहट के साथ मैं बिखर गया। पूरे प्राण से अपने को फूट पड़ने की छूट देता हुआ। कीचड़-सनी उँगलियों से माँ को जकड़ता हुआ जोर से रो पड़ा।

माँ भी वहीं मेरे पास बैठ गयी। मुझे कौली में भरकर। और मैं कोख की गरमाहट में मुँह छिपाकर रोता रहा। बहुत दिनों बाद पहले की तरह।

और सहसा मुझे लगा, बर्फ का एक विशाल ढेर पिघल रहा है। मेरा मन रुई की तरह हल्का और हल्का होने लगा। उस क्षण हवा का कोई झोंका आता तो मैं सचमुच ही उड़ने लगा होता।

(हंस, अप्रैल 1990)



संजय खाती

कथाकार संजय खाती का जन्म 1962 ई. में अल्मोड़ा में हुआ। कथा लेखन के साथ-साथ पत्रकारिता में निरंतर सक्रिय हैं। अभी हिन्दी के एक प्रमुख दैनिक के सम्पादकीय विभाग में कार्यरत हैं। दो कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं- 'पिंटी का साबुन' और 'बाहर कुछ नहीं था'। भारत में उदारीकरण की शुरूआत होने से पहले ही बाजारवाद और उसके कारण भावी संकट को आभासित कर 'पिंटी का साबुन' जैसी उल्लेखनीय कहानी की रचना की।

सम्पर्क :- ए-136 ए, लाजपत नगर,
साहिबाबाद, गाजियाबाद
मो. - 9910041006

बिल्लियां बतियाती हैं

एस.आर. हरनोट

अम्मा का झगड़ा शुरू हो गया है अपने आप से। दियासलाई की डिब्बिया से। ढिबरी से। चूल्हे में उपलों के बीच ठूंसी आग से और बाहर-भीतर दौड़ती बिल्लियों से। यही सब होता है जब अम्मा उठती है। वह चार बजे के आसपास जागती है। ओबरे में पशु भी अम्मा के साथ ही उठ जाते हैं। आंगन में चिड़िया को भी इसी समय चहकते सुना जा सकता है और बिल्लियों की भगदड़ भी अम्मा के साथ शुरू हो जाती है। यह नहीं मालूम कि अम्मा पहले जागती है या कि अम्मा की गायें याकि चिड़िया या फिर बिल्लियां।

कई बार अम्मा उठते ही अंधेरे से लड़ पड़ती है। हाथ अंधेरे की परतों पर तैरते रहते हैं। हाथ सिरहाने के नीचे जाता है पर दियासलाई नहीं मिलती। कई बार रात को जब अम्मा बीड़ी सुलगाती है तो दियासलाई नीचे गिर जाती है। ऊंघ में वह बीड़ी तो पी जाती है पर दियासलाई को ऊपर उठाने की हिम्मत नहीं हो पाती और आंख लग जाती है। इस समय याद नहीं आती। अम्मा खूब गालियां बकती है। ढिबरी उसी से जलनी है। काफी देर बाद याद आता है। बिस्तर से आधी चारपाई के नीचे झुक कर उंगलियों से फर्श सहलाती अम्मा के हाथ देर बाद लगती है दियासलाई। अपने को सहेजती है। एक तिल्ली निकाल मसाले पर रगड़ती है पर वह नहीं जलती। चिढ़ जाती है अम्मा।